

विंशोऽध्यायः

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरा वृत्तं शृणुष्व तत् ।
 पुरा ब्रह्मसभामध्ये सत्यलोकेऽतिपावने ॥ १ ॥
 ज्ञानप्रसङ्गः समभूत् सूक्ष्मात् सूक्ष्मविमर्शनम् ।
 सनकाद्या वसिष्ठश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ २ ॥
 भृगुरत्रिरङ्गिराश्च प्रचेता नारदस्तथा ।
 च्यवनो वामदेवश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः ॥ ३ ॥
 शुक्रः पराशरो व्यासः कण्वः काश्यप एव च ।
 दक्षः सुमन्तुः शङ्खश्च लिखितो देवलोऽपि च ॥ ४ ॥
 एवमन्ये ऋषिगणा राजर्षिप्रवरा अपि ।
 सर्वे समुदितास्तत्र ब्रह्मसत्रे महत्तरे ॥ ५ ॥
 मीमांसां चक्रुरत्युच्चैः सूक्ष्मात् सूक्ष्मनिरूपणैः ।
 ब्रह्माणं तत्र पप्रच्छुर्ऋषयः सर्व एव ते ॥ ६ ॥
 भगवन् ज्ञानिनो लोके वयं ज्ञातपरावराः ।
 तेषां नो विविधा भाति स्थितिः प्रकृतिभेदतः ॥ ७ ॥
 केचित् सदा समाधिस्थाः केचिन्मीमांसने रताः ।
 अपरे भक्तिनिर्मग्नाश्चान्ये कर्मसमाश्रयाः ॥ ८ ॥

(श्रीत्रिपुरादेवी का प्रकट होकर उपदेश देना)

श्रीदत्तात्रेय ने कहा—अब मैं तुम्हें एक पुरानी कहानी सुनाता हूँ, सुनो । पहले की बात है—एक बार परमपवित्र ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की सभा में ज्ञान की चर्चा चली । उसमें बारीक-से-बारीक विचार किया गया ॥ १-६ ॥

उस महती ज्ञानगोष्ठी में सनकादि, वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, अत्रि, अंगिरा, प्रचेता, नारद, च्यवन, वामदेव, विश्वामित्र, गौतम, शुक्राचार्य, पराशर, व्यास, कण्व, काश्यप, दक्ष, सुमन्तु, शङ्ख, लिखित, देवल और अनेक महर्षि तथा राजर्षि-गण सम्मिलित हुए । ज्ञान का गहन प्रतिपादन करते हुए गम्भीर मीमांसा करने लगे । इसके बाद उन्होंने ब्रह्मा से पूछा—॥ २-६ ॥

भगवन् ! संसार में हम लोग ज्ञानी माने जाते हैं । कार्य और कारण सब तत्त्वों को हम जाननेवाले हैं, किन्तु अलग-अलग स्वभाव के कारण हमारी स्थितियाँ भिन्न हैं ॥ ७ ॥

हममें से कुछ तो समाधि में लीन रहते हैं, कुछ विचार में लगे रहते हैं, कुछ भक्तिभाव में लगे रहते हैं और कुछ कर्म में निष्ठा रखनेवाले हैं ॥ ८ ॥

व्यवहारपरास्त्वेके बहिर्मुखनरा इव ।
 तेषु श्रेयान् हि कतम एतन्नो वक्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
 स्वस्वपक्षं वयं विद्मः श्रेयांसमिति वै विधे ।
 इति पृष्टोऽवदद् ब्रह्मा मत्वाऽनाश्वस्तमानसान् ॥ १० ॥
 मुनीन्द्रा नाहमप्येतद्वेद्मि सर्वात्मना ततः ।
 जानीयादिममर्थन्तु सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥ ११ ॥
 तत्र यामोऽर्थं सम्प्रष्टुमित्युक्त्वा तत्र तैर्ययो ।
 सङ्गम्य देवदेवेशं विष्णुनाभिसमागतः ॥ १२ ॥
 पप्रच्छ ऋषिमुख्यानां प्रश्नं तं लोकसृङ् विधिः ।
 प्रश्नं निशम्य च ज्ञात्वा विष्णुविधिः मनोगतम् ॥ १३ ॥
 मत्वाऽनाश्वस्तमनसा ऋषीन् देवो व्यचिन्तयत् ।
 किञ्चिदुक्तं मयाऽत्रापि व्यर्थमेव भवेन्न तु ॥ १४ ॥
 स्वपक्षत्वेन जानीयुर्ऋषयः श्रद्धया युताः ।
 इति मत्वा प्रत्युवाच देवदेवो महेश्वरः ॥ १५ ॥
 शृणुध्वं मुनयो नाऽहमप्येतद्वेद्मि सुस्फुटम् ।
 अतो विद्यां भगवतीं ध्यायामः परमेश्वरीम् ॥ १६ ॥
 तत्प्रसादान्निगूढार्थमपि विद्मस्ततः परम् ।
 इत्युक्त्वा मुनयः सर्वे विधिविष्णुशिवैः सह ॥ १७ ॥

कोई बहिर्मुख पुरुषों की तरह व्यवहार में लगे रहते हैं — इनमें श्रेष्ठ कौन हैं ? यह हमें बतलाने की कृपा करें । ब्रह्मान् ! हम लोग तो अपने पक्ष को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ॥ ९-११ ॥

ऋषियों के प्रश्न सुनकर ब्रह्माजी ने समझा कि इन्हें मेरे प्रति सही श्रद्धा नहीं है । उन्होंने कहा — मुनियो ! यह बात तो पूरी तरह मैं भी नहीं जानता । अच्छा हो आप लोग भगवान् महेश्वर से ही पूछें । वहीं जाइये, वे सर्वज्ञ हैं; इसके बारे में वे जानते होंगे ॥ १०-११ ॥

चलें, हम लोग वहीं चलें । ऐसा कहकर ब्रह्माजी सबके साथ शिवलोक पहुँचें । भगवान् विष्णु भी वहाँ मौजूद थे । सबके साथ महादेव से मिलकर ब्रह्माजी ने यही प्रश्न पूछा ॥ १२-१३ ॥

प्रश्न सुनकर महादेवजी ने ब्रह्मा और विष्णु के मन का भाव ताड़ लिया । उन्होंने सोचा ऋषियों के मन में श्रद्धा तो है ही नहीं, इन्हें कुछ भी समझाना तो बेकार ही होगा । इन्हें जो कुछ कहा जायेगा, उसे ये मेरे ही पक्ष की बात मानेंगे ॥ १३-१४ ॥

ऐसा सोचकर देवाधिदेव महादेव ने कहा — मुनियो ! आपने जो पूछा है, उसे साफ-साफ तो मैं भी नहीं जानता । अच्छा हो हम सब मिलकर भगवती विद्यादेवी

दध्युर्विद्यां महेशानीं त्रिपुरां चिच्छरीरिणीम् ।
 एवं सर्वैरभिध्याता त्रिपुरा चिच्छरीरिणी ॥ १८ ॥
 आविरासीच्चिदाकाशमयी शब्दमयी परा ।
 अभवन्मेघगम्भीरनिःस्वनो गगनाङ्गणे ॥ १९ ॥
 वदन्त्वृषिगणाः किं वो ध्याता तद् द्रुतमीहितम् ।
 मत्पराणां हि केषाञ्चिन्न हीयेताऽभिवाञ्छितम् ॥ २० ॥
 इति श्रुत्वा परां वाणीं प्रणेमुर्मुनिपुङ्गवाः ।
 ब्रह्मादयोऽपि तदनु तुष्टुर्विविधैः स्तवैः ॥ २१ ॥
 अथ प्रोचुर्ऋषिगणा विद्यां तां त्रिपुरेश्वरीम् ।
 नमस्तुभ्यं महेशानि श्रीविद्ये त्रिपुरेश्वरि ॥ २२ ॥
 अशेषोत्पादयित्री त्वं स्थापयित्री निजात्मनि ।
 विलापयित्री सर्वस्य परमेश्वरि ते नमः ॥ २३ ॥
 अनूतना सर्वदाऽसि यतो नास्ति जनिस्तव ।
 नवात्मिका सदा त्वं वै यतो नास्ति जरा तव ॥ २४ ॥
 सर्वासि सर्वसारासि सर्वज्ञा सर्वहर्षिणी ।
 असर्वाऽसर्वगाऽसाराऽसर्वज्ञाऽसर्वहर्षिणी ॥ २५ ॥

का ध्यान करें । फिर तो उनकी कृपा से गूढ़-से-गूढ़ रहस्य भी हम आसानी से जान सकते हैं ॥ १५-१६ ॥

महादेव के ऐसा कहने पर ब्रह्मा, विष्णु सहित मुनियों ने चित्स्वरूपा त्रिपुरा का ध्यान करना शुरू किया । इस तरह सबके मिलकर ध्यान करने पर चिदाकाश-मयी शब्दस्वरूपा विद्यादेवी त्रिपुरा इनके सामने साकार प्रकट हुई ॥ १७-१८ ॥

तब आकाश में मेघगर्जन की तरह उनकी आवाज गूँज उठी — ऋषियो ! बतलाओ, तुमने मेरा ध्यान किसलिए किया है ? शीघ्र ही अपनी अभिलाषा बतलाओ । मेरे भक्तों की कोई भी इच्छा कभी विफल नहीं होती ॥ १९-२० ॥

चार प्रकार की वाणियों में सबसे पहली परा वाणी सुनकर ऋषियों ने उन्हें प्रणाम किया । फिर ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने भी प्रणाम किया । फिर सभी ने मिलकर उनकी अनेक वन्दनाएँ कीं ॥ २१ ॥

विद्यादेवी उस त्रिपुरेश्वरी को फिर ऋषियों ने कहा — हे महेश्वरि ! श्रीविद्ये ! त्रिपुरेश्वरि ! आपको हमारा अनेक नमस्कार है ॥ २२ ॥

हे परमेश्वरी ! आपने अपने में ही इस सारी दुनिया की उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि को समाहित कर रखा है । आपको हमारा अनेकशः प्रणाम है ॥ २३ ॥

आपका कभी जन्म नहीं होता, इसलिए आप सदा ही पुरानी हैं । आपमें कभी बुढ़ापा आता ही नहीं, अतः आप चिरनवीना हैं ॥ २४ ॥

आप ही सब हैं, आप ही सबकी जड़ हैं, आप सब कुछ जानती हैं तथा आप ही

देवि भूयो नमस्तुभ्यं पुरस्तात् पृष्ठतोऽपि च ।
 अधस्तादूर्ध्वतः पार्श्वे सर्वतस्ते नमो नमः ॥ २६ ॥
 ब्रूहि यत्तेऽपरं रूपमैश्वर्यं ज्ञानमेव च ।
 फलं तस्माद्धनं मुख्यं साधकं सिद्धमेव च ॥ २७ ॥
 सिद्धेस्तु परमां काष्ठां सिद्धेषूत्तममेव च ।
 देव्येतत् क्रमतो ब्रूहि भूयस्तुभ्यं नमो नमः ॥ २८ ॥
 इत्यापृष्टा महाविद्या प्रवक्तुमुपचक्रमे ।
 दयमाना ऋषिगणे स्पष्टार्थं परमं वचः ॥ २९ ॥
 शृणुध्वमृषयः सर्वे प्रवक्ष्यामि क्रमेण तत् ।
 अमृतं ह्यगमाम्भोधेः समुद्धृत्य ददामि वः ॥ ३० ॥
 यत्र सर्वं जगदिदं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
 उत्पन्नञ्च स्थितं लीनं सर्वेषां भासते सदा ॥ ३१ ॥
 यदेव जगदाकारं भासतेऽविदितात्मनाम् ।
 यद्योगिनां निर्विकल्पं विभात्यात्मनि केवलम् ॥ ३२ ॥
 गम्भीरस्तिमिताम्भोधिरिव निश्चलभासनम् ।
 यत् सुभक्तरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात् ॥ ३३ ॥

सबको खुश करनेवाली हैं। किन्तु आपके स्वरूप में सब तो है ही नहीं, अतः आप सर्वशून्या हैं। आप सबसे अलग हैं, आप कुछ नहीं जानती हैं और न किसी को खुश करनेवाली हैं ॥ २५ ॥

देवि ! आपको हमारा बार-बार प्रणाम है। आगे से, पीछे से, ऊपर से, नीचे से, चारों ओर से बार-बार प्रणाम है ॥ २६ ॥

आपका जो दूसरा रूप है, जो विभूति है, जो ज्ञान है; उसकी जानकारी का जो फल है, उसे जानने का जो प्रमुख साधन है; इसके जो साधक और सिद्ध हैं, जो सिद्धि की चरमसीमा है और सिद्धों में जो सर्वश्रेष्ठ हैं—इनके बारे में आप हमें बतलाये। हम आपको बार-बार प्रणाम करते हैं ॥ २७-२८ ॥

इस तरह ऋषियों के पूछने पर देवी त्रिपुरा को दया आ गई। उन्होंने सन्देह रहित बड़ी मीठी आवाज में उन्हें समझाना शुरू किया ॥ २९ ॥

ऋषियों आप सुनें, मैं सिलसिलेवार ढंग से आपको सारी बातें समझा देती हूँ। वेद और तंत्रशास्त्ररूपी समुद्र से अमृत निकालकर आपको देती हूँ ॥ ३० ॥

जहाँ यह सारी दुनिया आईने में परछाई की तरह सबको हमेशा जनमती, टिकती और मिटती दीखती है; नासमझों को यह संसार के रूप में दिखलाई देती है और योगियों को यह बिलकुल स्थिर दीख पड़ती है। अपने स्वरूप में जो गंभीर और शान्त समुद्र की तरह अचल-अडिग स्फुरित हो रहा है, श्रेष्ठ भक्तगण इस आत्मपद को अद्वैत रूप से जानते हैं। फिर भी अपने मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के

स्वभावस्थं स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वोदयं पदम् ।
 विभेदभासमारुह्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः ॥ ३४ ॥
 अक्षान्तःकरणादीनां प्राणसूत्रं यदान्तरम् ।
 यदभानेन किञ्चित् स्याद् यच्छास्त्रैरभिलक्षितम् ॥ ३५ ॥
 परा सा प्रतिभा देव्याः परं रूपं मयेरितम् ।
 ब्रह्माण्डानामनेकानां बहिरुद्धर्वे सुधाम्बुधौ ॥ ३६ ॥
 मणिद्वीपे नीपवने चिन्तामणिसुमन्दिरे ।
 पञ्चब्रह्ममये मञ्चे रूपं त्रैपुरसुन्दरम् ॥ ३७ ॥
 अनादिमिथुनं यत्तदपराख्यम् ऋषीश्वराः ।
 तथा सदाशिवेशानो विधिविष्णुत्रिलोचनाः ॥ ३८ ॥
 गणेशस्कन्ददिक्पालाः शक्तयो गणदेवताः ।
 यातुधानाः सुरा नागा यक्षकिम्पुरुषादयः ॥ ३९ ॥
 पूज्याः सर्वा मम तनूरपराः परिकीर्तिताः ।
 मम मायाविमूढास्तु मां न जानन्ति सर्वतः ॥ ४० ॥
 पूजिता ह्येव सर्वैस्तैर्ददामि फलमीहितम् ।
 न मत्तोऽन्या काचिदस्ति पूज्या वा फलदायिनी ॥ ४१ ॥

कारण उपास्य और उपासक के रूप में द्वैतभाव की कल्पना कर अत्यन्त तत्पर हो, निश्चल भाव से उस परम आत्मपद का सेवन करते हैं । इन्द्रिय और अन्तःकरण के बीच वह प्राणरूपी अन्तःसूत्र है । इसके स्फुरित न होने पर कुछ भी नहीं रहता । यह केवल शास्त्रों द्वारा ही लक्षित होता है । यह परमप्रकाश ही मेरा पररूप कहा गया है ॥ ३५-३५ ॥

अनेक ब्रह्माण्डों से बिलकुल अलग-थलग बहुत दूर एक सुधासागर है । उसमें मणियों का एक टापू है । उस टापू पर एक कदम्ब का वन है । उस वन में चिन्ता-मणियों का एक मन्दिर है । उस मन्दिर में 'पञ्चब्रह्ममय' एक सिंहासन है । उस सिंहासन पर अनादि मिथुनात्मक त्रिपुरासुन्दरी की भव्य मूर्ति विराजित है । वही मेरा अपर स्वरूप है ॥ ३६-३७ ॥

इसी तरह सदाशिव, ईशान, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणेश, स्कन्द, इन्द्रादि दिग्पाल, महालक्ष्मी आदि शक्तियाँ, वसु आदि गण, राक्षस, देवता, नाग, यक्ष, किन्नर प्रभृति जो लोक में पूज्य हैं, सब मेरे ही दूसरे रूप हैं ॥ ३८-३९ ॥

इन सभी रूपों में मैं ही हूँ, किन्तु मेरी ही माया से मोहित पुरुष मुझे ही नहीं पहचानते हैं । ऊपर वर्णित रूपों की उपासना से प्रसन्न होकर उपासक को मैं ही मनवांछित फल देती हूँ । मुझसे भिन्न कोई अन्य मूर्ति न पूज्य है और न अभीष्ट फलदायिनी है ॥ ४०-४१ ॥

यथा यो मां भावयति फलं मत् प्राप्नुयात्तथा ।
 ममैश्वर्यमृषिगणा अपरिच्छिन्नमीरितम् ॥ ४२ ॥
 अनपेक्ष्यैव यत् किञ्चिदहमद्वयचिन्मयी ।
 स्फुराम्यनन्तजगदाकारेण ऋषिपुङ्गवाः ॥ ४३ ॥
 तथा स्फुरन्त्यपि सदा नात्येभ्यद्वैतचिद्वपुः ।
 एतन्मे मुख्यमैश्वर्यं दुर्घटार्थविभावनम् ॥ ४४ ॥
 ममैश्वर्यन्तु ऋषयः पश्यध्व सूक्ष्मया दृशा ।
 सर्वाश्रया सर्वगता चाप्यहं केवला चितिः ॥ ४५ ॥
 स्वमायया स्वमज्ञात्वा संसरन्ती चिरादहम् ।
 भूयो विदित्वा स्वात्मानं गुरोः शिष्यपदं गता ॥ ४६ ॥
 नित्यमुक्ता पुनर्मुक्ता भूयो भूयो भवाम्यहम् ।
 निरुपादानसम्भारं सृजामि जगदीदृशम् ॥ ४७ ॥
 इत्यादि सन्ति बहुधा ममैश्वर्यपरम्पराः ।
 न तद् गणयितुं शक्यं सहस्रवदनेन वा ॥ ४८ ॥
 शृण्वन्तु सङ्ग्रहाद्वक्ष्ये मदैश्वर्यस्य लेशतः ।
 जगद्धात्रा विचित्रेयं सर्वतः सम्प्रसारिता ॥ ४९ ॥
 ममाज्ञानं बहुविधं द्वैताद्वैतादिभेदतः ।
 परापरविभेदाच्च बहुधा चापि तत् फलम् ॥ ५० ॥

ऋषियो ! मेरी विभूति निःसीम है । मुझमें जिसकी भावना जैसी रहती है, उसे वैसा ही फल मिलता है ॥ ४२ ॥

मुनिवरो ! मैं अकेली हूँ, चिन्मयी हूँ । किसी दूसरी शक्ति की अपेक्षा किये बिना संसार के रूप में दीखती हूँ ॥ ४३ ॥

दुनिया के रूप में दीखने के बावजूद मैं अपने इस बेजोड़ चिन्मय रूप को छोड़ नहीं सकती । असंभव को भी संभव कर देनेवाला मेरा यही ऐश्वर्य है ॥ ४४ ॥

ऋषियो ! आप लोग जरा गहरी निगाह से मेरे प्रभुत्व की ओर देखें । मैं सबका आधार हूँ, सबमें अनुगत हूँ, फिर भी केवल चिन्मात्र हूँ ॥ ४५ ॥

अपनी माया से अपने को ही न जानकर मैं बहुत दिनों से जन्म-मरण रूप संसार-चक्र में पड़ी हुई हूँ । फिर गुरुदेव का शिष्यत्व कबूल करती हूँ । उसके प्रभाव से नित्यमुक्त होकर भी बार-बार मुक्त होती हूँ । फिर किसी साधन-सामग्री के बिना ही ऐसी दुनिया रच डालती हूँ ॥ ४६-४७ ॥

मेरे ऐश्वर्य की ऐसी ही अनन्त परम्पराएँ हैं, जिसे हजारों फनवाले शेषनाग भी नहीं गिन सकते ॥ ४८ ॥

सुनिए ! संक्षेप में बतलाती हूँ, मेरे ऐश्वर्य के एक कण से यह अनोखा लोक-व्यवहार चारों ओर फैला हुआ है ॥ ४९ ॥

द्वैतज्ञानन्तु विविधं द्वितीयालम्बनं यतः ।
 ध्यानमेव तु तत्प्रोक्तं स्वप्नराज्यादिसम्मितम् ॥ ५१ ॥
 तच्चापि सफलं ज्ञेयं नियत्या नियतं यतः ।
 अपरश्चापि विविधं तत्र मुख्यं तदेव हि ॥ ५२ ॥
 प्रोक्तमुख्यापरमयं ध्यानं मुख्यफलक्रमम् ।
 अद्वैतविज्ञानमेव परविज्ञानमीरितम् ॥ ५३ ॥
 मामनाराध्य परमां चिरं विद्यां तु श्रीमतीम् ।
 कथं प्राप्येत परमां विद्यामद्वैतसंज्ञिकाम् ॥ ५४ ॥
 तदेवाद्वैतविज्ञानं केवला या परा चित्तिः ।
 तस्याः शुद्धदशामर्शो द्वैतामर्शाभिभावकः ॥ ५५ ॥
 चित्तं यदा स्वमात्मानं केवलं ह्यभिसम्पतेत् ।
 तदेवानुविभातं स्याद् विज्ञानमृषिसत्तमाः ॥ ५६ ॥
 श्रुतितो युक्तितो वापि केवलात्मविभासनम् ।
 देहाद्यात्मावभासस्य नाशनं ज्ञानमुच्यते ॥ ५७ ॥
 तदेव भवति ज्ञानं यज्ज्ञानेन तु किञ्चन ।
 भासमानमपि क्वापि न विभायात् कथञ्चन ॥ ५८ ॥

द्वैत-अद्वैत के भेद से मेरा ज्ञान भी अनेक तरह का है । उसके फल भी पर और अपर भेद से अनेक तरह के हैं ॥ ५० ॥

द्वैतज्ञान अनेक तरह के हैं । इनका आधार कोई दूसरा होता है । उसे ध्यान भी कहा जाता है । यह सपने और मानसिक बहाव की तरह होते हैं ॥ ५१ ॥

किन्तु मनोराज्य की तरह होने पर भी उसे फलदायक ही समझना चाहिए, क्योंकि नियति का विधान ऐसा ही है । अपर ज्ञान अनेक हैं, परन्तु उनमें प्रमुखता इसी की है ॥ ५२ ॥

ऊपर बतलाया गया ध्यान उत्कृष्ट ब्रह्म का है । इसका प्रमुख फल मुक्ति है । मुक्ति का यह परम्परागत साधन है । पर ज्ञान को तो अद्वैत ज्ञान ही कहा गया है ॥ ५३ ॥

मैं ही तो परम उत्कृष्ट श्रीविद्या हूँ । मेरी लम्बी आराधना किये बिना कोई अद्वैत नाम वाली इस पराविद्या को कैसे पा सकता है ? ॥ ५४ ॥

जो सच्ची चित्शक्ति है, वही विशुद्ध ब्रह्मज्ञान है । इसके सच्चे स्वरूप का विचार ही आत्मा और परमात्मा के भेद को मिटाने वाला है ॥ ५५ ॥

जिस समय आदमी का मन अपनी आत्मा के स्वरूप की ओर लगता है, उसी समय उस विशुद्ध विज्ञान का साक्षात्कार होता है ॥ ५६ ॥

वेद से, उचित विचार से आत्मा की अनुभूति होना और देह आदि में आत्म-भाव की कमी हो जाना भी तो ज्ञान ही कहलाता है ॥ ५७ ॥

तदेवाद्वैतविज्ञानं यद्विज्ञानेन किञ्चन ।
 अविज्ञातं नैव भवेत् कदाचिल्लेशतोऽपि च ॥ ५९ ॥
 सर्वविज्ञानात्मरूपं यद्विज्ञानं भवेत् खलु ।
 तदेवाद्वैतविज्ञानं परमं तापसोत्तमाः ॥ ६० ॥
 जाते यादृशविज्ञाने संशयाश्चिरसम्भृताः ।
 वायुनेवाभ्रजालानि विलीयन्ते परं हि तत् ॥ ६१ ॥
 कामादिवासनाः सर्वा यस्मिन् सन्ति न किञ्चन ।
 स्युर्भग्नदंष्ट्राहिरिव तद्विज्ञानं परं स्मृतम् ॥ ६२ ॥
 विज्ञानस्य फलं सर्वदुःखानां विलयो भवेत् ।
 अत्यन्ताभयसम्प्राप्तिर्मोक्ष इत्युच्यते फलम् ॥ ६३ ॥
 भयं द्वितीयसङ्कल्पादद्वैते विदिते दृढम् ।
 कुतः स्याद् द्वैतसङ्कल्पस्तमः सूर्योदये यथा ॥ ६४ ॥
 ऋषयो न भयं क्वापि द्वैतसङ्कल्पवर्जने ।
 अतो यत् फलमन्यत् स्यात् तद्भयं सर्वथा भवेत् ॥ ६५ ॥

असली ज्ञान तो वही है जिसके मिल जाने पर दिखलायी देने वाली वस्तु भी कहीं नहीं दीखती ॥ ५८ ॥

सच्चा ब्रह्मज्ञान तो वही है जिसके मिल जाने पर फिर कभी कुछ भी अनजान नहीं रह जाता है ॥ ५९ ॥

हे तापसो ! जिस ज्ञान से सभी ज्ञान आत्मरूप हो जाते हैं, वास्तव में वही ज्ञान अद्वैत विज्ञान है ॥ ६० ॥

ऐसा विशिष्ट ज्ञान मिल जाने पर चिरपोषित सभी संशय उसी तरह खत्म हो जाते हैं जैसे हवा के झोंके से आकाश में मेघजाल विनष्ट हो जाते हैं । इसी ज्ञान को पराविज्ञान कहा गया है ॥ ६१ ॥

जिस ज्ञान के मिल जाने पर काम प्रभृति समस्त वासनाएँ स्वतः मिट जाती हैं, अगर कुछ बची-खुची रह भी जाती हैं तो वह दाँत तोड़े साँप की तरह बेकार ही होती है । यही पर-विज्ञान है ॥ ६२ ॥

इस विज्ञान की उपलब्धि समस्त दुःखों से छुटकारा और पूरी निर्भयता है । इसे ही पर-विज्ञान माना गया है ॥ ६३ ॥

डर तो किसी दूसरे को पाने का पक्का इरादा करने पर ही होता है या फिर किसी दूसरे के अस्तित्व से होता है । जहाँ अद्वैत ज्ञान मजबूत है वहाँ फिर द्वैत का संकल्प ही नहीं हो सकता है; जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नहीं होता ॥ ६४ ॥

ऋषियो ! आत्मा और परमात्मा का भेद छूट जाने पर डर तो रहता ही नहीं है । इसलिए जो फल आत्मा के रूप से अलग होगा वह सब तरह से भय रूप ही होगा ॥ ६५ ॥

अन्तवत्तु द्वितीयं स्याद् भूयो लोके समीक्षणात् ।
 सान्ते भयं सर्वथैवाभयं तस्मात् कुतो भवेत् ॥ ६६ ॥
 संयोगो विप्रयोगान्तः सर्वथैव विभावितः ।
 फलयोगोऽपि तस्माद्धि विनश्येदिति निश्चयः ॥ ६७ ॥
 यावदन्यत् फलं प्रोक्तं भयं तावत्प्रकीर्तितम् ।
 तदेवाभयरूपन्तु फलं सर्वे प्रचक्षते ॥ ६८ ॥
 यदात्मनोऽनन्यदेव फलं मोक्षः प्रकीर्तितः ।
 ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमपि फलं चैकं यदा भवेत् ॥ ६९ ॥
 तदा हि परमो मोक्षः सर्वभीतिविवर्जितः ।
 ज्ञानं विकल्पसङ्कल्पहानं मौढ्यविवर्जितम् ॥ ७० ॥
 ज्ञातुः स्वच्छात्मरूपं तदादावनुपलक्षितम् ।
 उपदेशक एवातो गुरुः शास्त्रं च नेतरत् ॥ ७१ ॥
 एतदेव हि विज्ञेयस्वरूपमभिधीयते ।
 ज्ञातृज्ञानज्ञेयगतो यावद्भेदोऽवभासते ॥ ७२ ॥
 तावज्ज्ञाता ज्ञानमपि ज्ञेयं वा न भवेत् क्वचित् ।
 यदा भेदो विगलितो ज्ञात्रादीनां मिथः स्थितः ॥ ७३ ॥
 तदा ज्ञात्रादिसम्पत्तिरेतदेव फलं स्मृतम् ।

अपनी आत्मा से अलग जो कुछ भी होगा, वह नाशवान् तो होगा ही; क्योंकि ऐसा ही इस संसार में देखा जाता है । नाशवान् पदार्थ में तो हर तरह का डर बना ही रहता है । अतः उसे पाकर कोई निडर कैसे हो सकता है ? ॥ ६६ ॥

हर संयोग की परिणति तो वियोग ही देखा जाता है । अतः यह निश्चय है कि किसी अन्य फल का संयोग अन्त में विनष्ट होना ही है ॥ ६७ ॥

अतः आत्मा से अलग यदि कोई फल रहता है, तो उससे बिछुड़ने का डर तो रहता ही है । आत्मा से अभिन्न मोक्ष रूप फल ही तो निडर कहलाता है । यहाँ आकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एकरूप हो जाता है ॥ ६८-६९ ॥

हर तरह की संकल्प रहित स्थिति में अज्ञानशून्य ज्ञान का उदय होता है । इसी स्थिति में भयशून्य मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ७० ॥

अपना यह विशुद्ध रूप पहले किसी ज्ञाता को पता नहीं चलता । ऐसी स्थिति में गुरु और शास्त्र ही उपदेष्टा होते हैं और कुछ नहीं ॥ ७१ ॥

ज्ञेय का यही स्वरूप है । जब तक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद रहेगा तब तक वे कुछ नहीं हैं । जिस समय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक भेद मिट जाता है, उसी क्षण ये अपने रूप में आते हैं और यहीं इस ज्ञान का फल भी माना गया है ॥ ७२-७३ ॥

ज्ञात्रादिफलपर्यन्तं न भेदो वस्तुतो भवेत् ॥ ७४ ॥
 व्यवहारप्रसिद्धयर्थं भेदस्तत्र प्रकल्पितः ।
 अतः पूर्वं लभ्यमत्र फलं नास्त्येव किञ्चन ॥ ७५ ॥
 आत्मैव मायया ज्ञातृज्ञानज्ञेयफलात्मना ।
 यावद्भाति भवेत्तावत् संसारो ह्यचलोपमः ॥ ७६ ॥
 यथा कथञ्चिदेतत्तु भायाद्भेदविवर्जितम् ।
 संसारो विलयं यायाच्छिन्नाभ्रमिव वायुना ॥ ७७ ॥
 एवंविधमहामोक्षे तत्परत्वं हि साधनम् ।
 तत्परत्वे तु सम्पूर्णं नान्यत् साधनमिष्यते ॥ ७८ ॥
 अपूर्णं तत्परत्वे तु किं सहस्रसुसाधनैः ।
 तस्मात् तात्पर्यमेव स्यान्मुख्यं मोक्षस्य साधनम् ॥ ७९ ॥
 तात्पर्यं सर्वथैतत्तु साधयामीति संस्थितिः ।
 यस्तात्पर्येण संयुक्तः सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ८० ॥
 दिनैर्मासैर्वत्सरैर्वा मुक्तः स्याद्वाऽन्यजन्मनि ।
 बुद्धिर्नैर्मल्यभेदेन चिरशीघ्रव्यवस्थितिः ॥ ८१ ॥
 बुद्धौ तु बहवो दोषाः सन्ति सर्वार्थनाशनाः ।
 यैर्जनाः सततन्त्वेवं पच्यन्ते घोरसंसृतौ ॥ ८२ ॥

यथार्थं तो यह है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से लेकर इनके फल तक कोई भेद है ही नहीं । केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए ही इनमें भेद की कल्पना की गई है । अतः इस भेद-कल्पना से पहले पाने योग्य कोई फल है ही नहीं ॥ ७४-७५ ॥
 सांसारिक माया के कारण जब तक यह आत्मा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और फल के रूप में दीख रही है तब तक यह दुनिया राह रोके पहाड़ की तरह खड़ी है ॥ ७६ ॥
 किन्तु किसी तरह यह आत्मा यदि भेदहीन दिखलाई पड़ने लगे तो हवा के झोंके से तितर-बितर किये गये बादल की तरह यह दुनिया विलीन हो जाती है ॥ ७७ ॥
 इस तरह संसार से मुक्ति पाने के लिए तत्परता ही मुख्य साधन है । यदि पूरी तत्परता हो तो फिर किसी दूसरे साधन की कोई जरूरत नहीं है ॥ ७८ ॥
 यदि पूरी तत्परता न हो तो हजारों दूसरे साधनों से भी कोई फायदा नहीं है । अतः तत्परता ही मुक्ति का प्रमुख साधन है ॥ ७९ ॥
 “जैसे भी होगा मैं इस काम को अवश्य ही पूरा करूँगा” इस स्थिति का नाम ही तत्परता है । जिसके पास ऐसी तत्परता है वह हर तरह से जीवन्मुक्त है ॥ ८० ॥
 ऐसे लोग कुछ दिनों में, महीनों, सालों या जन्मान्तरों में मुक्त हो ही जायेंगे । बुद्धि की निर्मलता के भेद से ही उसके शीघ्र या देर से मुक्त होने की व्यवस्था जाननी चाहिए ॥ ८१ ॥
 बुद्धि में हर तरह के पुरुषार्थ को विनष्ट करने की ताकत होती ही है । इसी

तत्राद्यः स्यादनाश्वासो द्वितीयः कामवासना ।
 तृतीयो जाड्यता प्रोक्ता त्रिधैवं दोषसङ्ग्रहः ॥ ८३ ॥
 द्विविधः स्यादनाश्वासः संशयश्च विपर्ययः ।
 मोक्षोऽस्ति नास्ति वेत्याद्यः संशयः समुदाहृतः ॥ ८४ ॥
 नास्त्येव मोक्ष इत्याद्यो भवेदत्र विपर्ययः ।
 एतद् द्वयन्तु तात्पर्यं मुख्यं स्यात् प्रतिबन्धकम् ॥ ८५ ॥
 विपरीतनिश्चयेन नश्येदेतद् द्वयं क्रमात् ।
 अत्रोपायो मुख्यतमो मूलच्छेदो न चापरः ॥ ८६ ॥
 अनाश्वासस्य मूलन्तु विरुद्धतर्कचिन्तनम् ।
 तत्परित्यज्य सत्तर्कावर्तनस्य प्रसाधने ॥ ८७ ॥
 विपरीतो निश्चयः स्यान्मूलच्छेदनपूर्वकः ।
 ततः श्रद्धासमुदयादनाश्वासः प्रणश्यति ॥ ८८ ॥
 कामादिवासना बुद्धेः श्रवणे प्रतिबन्धिका ।
 कामादिवासनाविष्टा बुद्धिर्नैव प्रवर्तते ॥ ८९ ॥
 लोकेऽपि कामी काम्यस्य सदा ध्यानैकतत्परः ।
 पुरःस्थितं न पश्येच्च श्रोत्रोक्तं शृणुयान्न च ॥ ९० ॥

बुद्धि के वात्पाचक्र में फँसकर लोग जन्म-मरण रूपी भयंकर संसार की आग में जलते रहते हैं ॥ ८२ ॥

इनका पहला दोष है—अविश्वास । दूसरा दोष है—कामवासना और तीसरा दोष है—जड़ता । मुख्यतः इसके ये तीन दोष हैं ॥ ८३ ॥

अविश्वास दो तरह के हैं—संशय और विपर्यय । मोक्ष नाम की कोई वस्तु है या नहीं ? यह पहला संशयदोष है ॥ ८४ ॥

मुक्ति नाम की कोई वस्तु है ही नहीं—ऐसी मान्यता विपर्ययदोष है । ये दोनों ही तरह के दोष तत्परता के प्रमुख बाधक हैं ॥ ८५ ॥

इनके विपरीत निश्चय करने पर ये दोनों दोष अपने-आप मिट जाते हैं । किन्तु इनके रोकने का प्रमुख उपाय तो इनका समूल विनाश ही है कोई और नहीं ॥ ८६ ॥

अविश्वास का मूल कारण है—शास्त्र-विरुद्ध तर्कों का सहारा । इसे छोड़कर यदि शास्त्रानुमोदी तर्कों का सहारा लिया जाय तो विपरीत निश्चय की जड़ खोदकर उसे मिटाया जा सकता है । श्रद्धा जगते ही अविश्वास स्वतः मिट जायेगा ॥ ८७-८८ ॥

कामवासना बुद्धि के श्रवण में रुकावट डालनेवाली होती है । क्योंकि जिस बुद्धि में कामवासना होती है, उसमें सात्त्विक भावना नहीं होती है ॥ ८९ ॥

लोकव्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि कामनाशील व्यक्ति जब अपनी काम्य वस्तु में लीन रहता है तब उसे न तो सामने रखी वस्तु दीखती है और न उसे कान में कही बात ही सुनाई पड़ती है ॥ ९० ॥

कामादिवासितस्यैवं श्रुतं चाश्रुतमस्मितम् ।
 कामादिवासनां तस्माज्जयेद्वैराग्यसम्पदा ॥ ९१ ॥
 सन्ति कामक्रोधमुखा वासनास्तु सहस्रशः ।
 तत्र कामो मूलभूतस्तन्नाशे न हि किञ्चन ॥ ९२ ॥
 ततो वैराग्यसंयोगान्नाशयेत् कामवासनाम् ।
 आशा हि कामः सम्प्रोक्त एतन्मे स्यादिति स्थिता ॥ ९३ ॥
 शक्येषु स्थूलभूता सा सूक्ष्माऽशक्येषु संस्थिता ।
 दृढवैराग्ययोगेन सर्वा तां प्रविनाशयेत् ॥ ९४ ॥
 तत्र मूलं काम्यदोषपरामर्शः प्रतिक्षणम् ।
 वैमुख्यं विषयेभ्यश्च वासना नाशयेदिति ॥ ९५ ॥
 यस्तृतीयो बुद्धिदोषो जाड्यरूपो व्यवस्थितः ।
 असाध्यः सोऽभ्यासमुखैः सर्वथा ऋषिसत्तमाः ॥ ९६ ॥
 येन तात्पर्यतश्चापि श्रुतं बुद्धिमनारुहेत् ।
 तज्जाड्यं हि महान् दोषः पुरुषार्थविनाशनः ॥ ९७ ॥
 तत्रात्मदेवतासेवामृते नान्यद्वि कारणम् ।
 सेवायास्तारतम्येन जाड्यं तस्य हराम्यहम् ॥ ९८ ॥

कामवासना से जिसका मन कलुषित रहता है, वह शास्त्रवचन सुनकर भी अनसुनी कर देता है । ऐसी स्थिति में विरक्ति-भावना से इस प्रवृत्ति पर विजय पानी चाहिए ॥ ९१ ॥

काम, क्रोध आदि वासनाएँ तो हजारों हैं; इनकी जड़ तो काम ही है । इन्हें विनष्ट कर देने पर अन्य दूसरी वासना स्वतः मिट जाती है ॥ ९२ ॥

अतः विरक्ति की भावना से कामवासना को विनष्ट करना चाहिए । आशा का ही दूसरा नाम काम है । मनुष्य के मन में—‘मुझे यह मिल जाय’ इस रूप में यह हमेशा मौजूद रहती है ॥ ९३ ॥

जो वस्तु मिल सकती है उसमें वह स्थूल रूप से रहती है और जो नहीं मिल सकती उनमें वह सूक्ष्म रूप से रहती है । ऐसी हर तरह की आशा को दृढ़ विरक्ति से विनष्ट कर देना चाहिए ।

ऐसी साधना की जड़ है—हर पल काम्यवस्तुओं में दोषदृष्टि रखना । विषयों के प्रति विमुखता ही वासना को विनष्ट कर देती है ॥ ९५ ॥

मुनियो ! तीसरा दोष है—बुद्धि की जड़ता । इसे अभ्यास के द्वारा मिटाना तो बिलकुल असंभव है ॥ ९६ ॥

इसी जड़ता के कारण तत्पर होकर सुनी गई बातें भी बुद्धि में समा नहीं पातीं । मनुष्य के सभी पुरुषार्थों को जड़ता बिलकुल व्यर्थ कर देती है ॥ ९७ ॥

इससे छूटकारा मिलने का उपाय आत्मदेव की उपासना के अतिरिक्त और कुछ

जाड्याल्पानल्पभावेन सद्यो वा परजन्मनि ।
 भवेत्तस्य फलप्राप्तिर्जाड्यसंयुक्तचेतसः ॥ ९९ ॥
 सर्वसाधनसम्पत्तिर्ममैव प्रणिधानतः ।
 उपयाति च यो भक्त्या सर्वदा मामकैतवात् ॥ १०० ॥
 स साधनप्रत्यनीकं विधूयाशु कृती भवेत् ।
 यस्तु मामीश्वरीं सर्वबुद्धिप्रसरकारिणीम् ॥ १०१ ॥
 अनादृत्य साधनैकपरः स्यान्मूढभावतः ।
 पदे पदे विहन्येत फलं प्राप्येत वा न वा ॥ १०२ ॥
 तस्मात्तु ऋषयो मुख्यं तात्पर्यं साधनं भवेत् ।
 एवं तात्पर्यवानेव साधकः परमः स्मृतः ॥ १०३ ॥
 तत्र मद्भक्तियुक्तस्तु साधकः सर्वपूजितः ।
 सिद्धिरात्मव्यवसितिर्देहानात्मत्वभावना ॥ १०४ ॥
 आत्मत्वभावनं नूनं शरीरादिषु संस्थितम् ।
 तदभावनमात्रञ्च सिद्धिमौढ्यविवर्जितम् ॥ १०५ ॥
 आत्मा व्यवसितः सर्वैरपि नो केवलात्मना ।
 अत एव तु सम्प्राप्ता महानर्थपरम्परा ॥ १०६ ॥

हे ही नहीं । साधक की उपासना के अनुसार कम या ज्यादा उसकी जड़ता मैं दूर करती हूँ ॥ ९८ ॥

जड़ चित्तवाले साधक को उसकी कम या ज्यादा जड़ता के अनुसार इसी या अगले जन्म में फल मिल जाता है ॥ ९९ ॥

हर तरह के साधनों की पूर्णता मेरी उपासना से ही होती है । जो हमेशा निश्छल भाव से भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करता है, वह साधना के समस्त विघ्नों को पार कर निहाल हो जाता है ॥ १०० ॥

इस ओर सबकी बुद्धि को मैं प्रेरित करती हूँ । अपनी जड़बुद्धि के कारण जो मेरा अनादर कर साधन में लग जाता है, वह पग-पग पर ठोकर खाता है । उसे फल मिल भी जाता है और नहीं भी मिलता है ॥ १०१-१०२ ॥

अतः हे तापसो ! मुख्य साधन तो तत्परता ही है, अतः तत्पर साधक ही श्रेष्ठ साधक माना गया है । इनमें भी जो साधक मेरा भक्त है, वह सबका आदरणीय होता है ॥ १०३ ॥

देह को आत्मा समझने की भूल का अभाव और अपनी आत्मा में ठहराव ही तो सिद्धि है । देहादि में जो आत्मबुद्धि होती है, उसकी कमी ही अज्ञानरहित सिद्धि है ॥ १०४-१०५ ॥

‘मैं कौन हूँ ?’ इसका सबको सही ज्ञान नहीं होने के कारण ही जन्म-मरणरूपी महान् इस अनर्थ की परम्परा मिली है ॥ १०६ ॥

तस्मात् केवलचिन्मात्रं यद्देहाद्यवभासकम् ।
 तन्मात्रात्मव्यवसितिः सर्वसंशयनाशिनी ॥ १०७ ॥
 सिद्धिरित्युच्यते प्राज्ञैर्नातः सिद्धिरनन्तरा ।
 सिद्धयः खेचरत्वाद्या अणिमाद्यास्तथैव च ॥ १०८ ॥
 आत्मविज्ञानसिद्धेस्तु कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।
 ताः सर्वास्तु परिच्छिन्नाः सिद्धयो देशकालतः ॥ १०९ ॥
 इयं स्यादपरिच्छिन्ना स्वात्मविद्या शिवात्मिका ।
 स्वात्मविद्यासाधनेषु ताः सर्वाः सुप्रतिष्ठिताः ॥ ११० ॥
 आत्मविद्याविधावेतास्त्वन्तरायप्रयोजकाः ।
 किं ताभिरिन्द्रजालात्मसिद्धितुल्याभिरीहितम् ॥ १११ ॥
 यस्य साक्षाद् ब्रह्मपदमपि स्यात्तृणसम्मितम् ।
 कियन्त्येताः सिद्धयो वे कालक्षपणहेतवः ॥ ११२ ॥
 तस्मात् सिद्धिर्नेतरा स्यादात्मविज्ञानसिद्धितः ।
 ययाऽत्यन्तशोकनाशो भवेदानन्दसान्द्रता ॥ ११३ ॥
 सैव सिद्धिर्नेतरा तु मृत्युग्रासविमोचिनी ।
 इयमात्मज्ञानसिद्धिर्विविधाभ्यासभेदतः ॥ ११४ ॥
 बुद्धिर्नैर्मल्यभेदाच्च परिपाकविभेदतः ।
 सङ्क्षेपतस्तु त्रिविधा चोत्तमा मध्यमाऽधमा ॥ ११५ ॥

अतः यह विशुद्ध चित्ति, जिसमें सारी दुनिया प्रतिबिम्बित है; उसी रूप में अपनी आत्मा को भी समझना ही सभी सन्देहों को मिटा देना है । इसी स्थिति को विज्ञानों ने सिद्धि कहा है । इसके अलावा आकाश में घूमना या अणिमादि सिद्धियाँ वास्तविक सिद्धि नहीं है ॥ १०७-१०८ ॥

ये सभी सिद्धियाँ तो देश और काल से परिसीमित हैं । अतः ये आत्मज्ञान रूप सिद्धि के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है ॥ १०९ ॥

यह शिवस्वरूपा आत्मविद्या तो असीमित है । ये सब तो आत्मज्ञान के साधन करते-करते स्वयं ही आ जाती हैं ॥ ११० ॥

किन्तु ये आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधा डालनेवाली है । भला जिज्ञासुओं के जादूगर की जादूगरी जैसी इन सिद्धियों से क्या लेना-देना है ? ॥ १११ ॥

जिनकी दृष्टि में 'ब्रह्मपद' भी तिनके के समान है, उनके लिए केवल समय काटने में उपयोगी इन सिद्धियों का क्या मूल्य है ? ॥ ११२ ॥

अतः आत्मविज्ञान रूप सिद्धि से बढ़कर और कोई सिद्धि नहीं है, जिससे शोक का बिलकुल विनाश और आनन्दघनता मिल जाती है ॥ ११३ ॥

यही सिद्धि काल के गाल से भी बचानेवाली है । अभ्यास, पवित्र बुद्धि और ज्ञान की पुष्टि के तारतम्य से यह आत्मज्ञानरूपा सिद्धि अनेक तरह की है । किन्तु

लोके द्विजानामृषयः पठिता श्रुतिसम्मिता ।
 मेधया च महाभ्यासाद्व्यापारशतसङ्कुला ॥ ११६ ॥
 अप्यस्खलितवर्णा या पठिता श्रुतिरुत्तमा ।
 समाहितस्य व्यापारेऽसमाहितस्य चान्यदा ॥ ११७ ॥
 पूर्ववद्याऽप्यस्खलिता पठिता मध्यमा श्रुतिः ।
 या सदा ह्यनुसन्धानयोगादेव भवेत्तथा ॥ ११८ ॥
 पठिता श्रुतिरत्यन्तास्खलिता मध्यमा हि सा ।
 एवमेवात्मविज्ञानसिद्धिरुक्ता त्रिधर्षयः ॥ ११९ ॥
 या महाव्यवहारेषु प्रतिसन्धानवर्जने ।
 अन्यदा तद्वर्जने वा सर्वदा प्रतिसन्धितः ॥ १२० ॥
 अन्यूनाधिकभावा स्यात् सोत्तमा मध्यमाऽधमा ।
 अत्रोत्तमैव संसिद्धेः पराकाष्ठा निरूपिता ॥ १२१ ॥
 स्वप्नादिष्वप्यवस्थासु यदा स्यात् परमा स्थितिः ।
 विचारक्षणतुल्येव सिद्धिः सा परमोत्तमा ॥ १२२ ॥
 सर्वत्र व्यवहारेषु यत्नात् संस्कारबोधतः ।
 यदा प्रवृत्तिसिद्धेः सा पराकाष्ठा समीरिता ॥ १२३ ॥

लोक में ब्राह्मण द्वारा पढ़ी हुई श्रुति की तरह यह तीन तरह की है—उत्तम, मध्यम और अधम ॥ ११४-११५ ॥

बुद्धि की प्रसरता और अत्यन्त अभ्यास के कारण जिस श्रुति के पाठ में सँकड़ों व्यापारों के रहते हुए वर्ण या स्वर में अन्तर नहीं आता, वह उत्तम श्रुति है ॥ ११६ ॥

पाठ के समय सावधान रहने पर, दूसरे समय असावधान रहने पर भी जो पहले ही की तरह बिना फिसले पढ़ा जा सके, वह मध्यम श्रुति है ॥ ११७ ॥

जो हमेशा प्रयासपूर्वक ही पढ़ी जाय और पाठ में अनेक भूलें भी हों, वह अधम श्रुति कहलाती है ॥ ११८ ॥

मुनियो ! इसी तरह आत्मविज्ञान की सिद्धि भी तीन तरह की कही गई है । जो अधिक व्यवहृत होने पर या बिना प्रयास के भी रहती है वह उत्तम; जो व्यापार के बिना भी स्वभावसिद्ध है वह मध्यम; और जो हमेशा अत्मानुसंधान करते रहने पर ही कम या বেশी भाव से मिलती है, वह अधम सिद्धि है । इनमें उत्तम सिद्धि की ही पराकाष्ठा मानी गई है ॥ ११९-१२१ ॥

जब सपने में भी जगे हुए की तरह ही उत्तम स्थिति बनी रहे तब वह सिद्धि परम उत्कृष्ट मानी गई है ॥ १२२ ॥

जब पहले के संस्कार जगने पर हर तरह के व्यवहार में प्रयत्न करने पर रुचि जग जाती हो तो उसे हम सिद्धि की पराकाष्ठा कहते हैं ॥ १२३ ॥

अयत्नेनैव परमे स्थितिः संवेदनात्मनि ।
 अव्याहता यदा सिद्धिस्तदा काष्ठां समागता ॥ १२४ ॥
 व्यवहारपरो भावान् पश्यन्नपि न पश्यति ।
 द्वैतं तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२५ ॥
 जागरादौ व्यवहरन्नपि निदितवद्यदा ।
 स्थितिस्तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२६ ॥
 एवं सिद्धिमनुप्राप्तः सिद्धेषूत्तम उच्यते ।
 व्यवहारपरो नित्यं न समाधिं विमुञ्चति ॥ १२७ ॥
 कदाचिदपि मेधावी स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 ज्ञानिनां विविधानां च स्थितिं जानाति सर्वदा ॥ १२८ ॥
 स्वानुभूत्या स्वान्तरेव स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 संशयो वापि कामो वा यस्य नास्त्येव लेशतः ॥ १२९ ॥
 निर्भयो व्यवहारेषु स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 सर्वं सुखञ्च दुःखञ्च व्यवहारञ्च जागतम् ॥ १३० ॥
 स्वात्मन्येवाभिजानाति स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 अत्यन्तं बद्धमात्मानं मुक्तञ्चापि प्रपश्यति ॥ १३१ ॥
 यः स्वात्मनि तु सर्वात्मा स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 यः पश्यन् बन्धजालानि सर्वदा स्वात्मनि स्फुटम् ॥ १३२ ॥

बिना प्रयास ही ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व में निरन्तर ठहराव मिल जाय तो सिद्धि की पराकाष्ठा हो जाती है ॥ १२४ ॥

कामकाज में लगे रहने पर भी जब अनेक वस्तुओं को देखने के बावजूद वे दिखलाई न पड़े तो वैसी स्थिति में उत्तमा सिद्धि अपनी पूर्णता को पा लेती है । जगे रहने पर कामकाज करते समय जब सपने की अनुभूति हो तब सिद्धि की पूर्णता जाननी चाहिए । ऐसी सिद्धि प्राप्त पुरुष सिद्धों में श्रेष्ठ कहलाता है ॥ १२५-१२६ ॥
 लगातार कामकाज में लगे रहने पर भी जो कभी समाधि को नहीं छोड़ता, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२७ ॥

अपने अनुभव के द्वारा जो अपनी ही तरह अन्य ज्ञानियों की स्थितियों को जब चाहे जान लेता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२८ ॥
 जिसके मन में थोड़ी भी कामना या संशय नहीं है और कामकाज में किसी तरह का डर नहीं है, वह व्यक्ति सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १२९ ॥

सभी सुख, दुःख और दुनियादारी को जो अपनी आत्मा में ही प्रतिबिम्बित देखता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३० ॥

अत्यन्त बद्ध या मुक्त पुरुष को जो अपनी आत्मा में प्रतिभासित देखता है, वह सर्वात्मा सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३१ ॥

मोक्षं नापेक्षते क्वापि स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 सिद्धोत्तमोऽहमेवेह न भेदस्त्वावयोः क्वचित् ॥ १३३ ॥
 एतद्वो ऋषयः प्रोक्तं सुस्पष्टमनुयुक्तया ।
 एतन्मयोक्तं विज्ञाय न क्वचित् परिमुह्यते ॥ १३४ ॥
 इत्युक्ता सा परा विद्या विरराम भृगूद्वह ।
 श्रुत्वैतदृषयः सर्वे सन्देहमपहाय च ॥ १३५ ॥
 नत्वा शिवादीन् लोकेशान् जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम् ।
 विद्यागीता मयैषा ते प्रोक्ता पापौघनाशिनी ॥ १३६ ॥
 श्रुता विचारिता सम्यक् स्वात्मसाम्राज्यदायिनी ।
 विद्यागीताऽत्युत्तमेयं साक्षाद्विद्या निरूपिता ॥ १३७ ॥
 पठतां प्रत्यहं प्रीता ज्ञानं दिशति सा स्वयम् ।
 संसारतिमिराम्भोधो मज्जतां तरणिर्भवेत् ॥ १३८ ॥
 इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विद्यागीता नाम विंशोऽध्यायः ।

समस्त बन्धनों को अपनी आत्मा में ही सदैव प्रतिभासित देखकर जिसे कभी मुक्ति की इच्छा भी नहीं होती, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३२-१३३ ॥

अधिक क्या, वह श्रेष्ठ सिद्ध मैं ही हूँ । मुझमें उससे कभी कोई अन्तर नहीं है । मुनियो ! मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया । मेरे कथन का अभिप्राय ठीक से समझ लेने पर फिर मोह होता ही नहीं ॥ १३३-१३४ ॥

हे परशुराम ! इतना बोलकर वह पराविद्या मौन हो गई । उसका उपदेश सुनकर सभी ऋषियों का सन्देह दूर हो गया । शिवसहित देवताओं को प्रणाम कर वे सभी अपनी-अपनी जगह लौट गये ॥ १३५-१३६ ॥

यह मैंने तुम्हें समस्त पापों को विनष्ट करनेवाली विद्यागीता सुनायी । इस पर यदि ठीक ढंग से श्रवण-मनन किया जाय तो उसे अपने आत्मानन्द का साम्राज्य मिल जाय ॥ १३६-१३७ ॥

प्रत्यक्ष विद्यादेवी द्वारा प्रतिपादित यह विद्यागीत है । जो आदमी इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं, उन पर विद्यादेवी प्रसन्न होकर उन्हें ज्ञानदान देती हैं । इस संसाररूप अन्धकार के समूह में डूबनेवालों के लिए यह सूर्य या नौका के समान है ॥ १३७-१३८ ॥

विशेष—इस श्लोक में 'तरणि' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है । कोषगत इसका अर्थ सूर्य और नौका दोनों ही है । यहाँ सागर में डूबने से बचाने के लिए नौका तथा अन्धकार में डूबने से बचाने के लिए सूर्य अर्थ का श्लिष्ट प्रयोग सूचयुक्त है ।

बीसवाँ अध्याय समाप्त ।